वेदकालीन ऋषिकाओं का जीवनदर्शन

डॉ. हंसा परमार
श्रीमती जे.पी.श्रोफ आर्ट्स कोलेज, बलसार

वेदयुग में हिरण्यगर्भ की स्तुति१ ''कस्मैदेवया हविषा विधेम में सृष्टि के अस्तित्त्व की खोज की अभिव्यक्ति है। उपनिषदो में निरंतर ऐश्वर्य समृद्धि में रत शौनक महाशाल को इस भोग-विलास की समृद्धि जीवन में साख्यिक सुख और शांति नहीं दे पाते। उस समय उनके मन में एक प्रश्न उठता है, कि एसा कौन-सा तत्त्व है, जिससे ज्ञात होने से सबकुछ प्राप्त कर सकते है, सर्वज्ञ हो पाएगे?''र उत्तर यह है कि ज्ञानेन्द्रियों एवम् कर्मेन्द्रियों की कार्यशक्ति उसकी अपनी नहीं बल्कि, अन्य द्वारा कार्यान्वित होती है एसा केनोपनिषद् जैसे उपनिषदों में स्पष्ट किया गया है। मानवजीवन का परम लक्ष्य मोक्ष माना गया है अतः उसे श्रेष्ठ, परम, उत्तम पुरुषार्थ भी कहा गया है। समस्त मानवसृष्टि, जीवसृष्टि के जीवन उन्नति के लिए चार पुरुषार्थ को माना गया है : धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जिनमें मोक्ष उत्तमोत्तम, सर्वेश्रेष्ठ पुरुषार्थ सिद्ध हुआ है।

अर्थ समस्त मानवजाति ही नहीं बल्कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवसृष्टि के व्यवहार (विनिमय-व्यापार) का परम आधार है, वित्तेषणा (धन प्राप्ति करने की एषणा-इच्छा) और अर्थ की अनिवार्यता इन दोनो के बीच यदि संवादिता (संतुलन) स्थापित न हो तो यह वितेषणा, मनुष्य को भौतिकता की और आकर्षित करती है इतना ही नहीं उसका जीवन स्वकेन्द्री हो जाता है। मनुष्य परमार्थी न होकर स्वार्थी बन जाता है। वेद, उपनिषद् पुराणादि में दानवीरता और उदारता की महिमा का गान किया गया है, यज्ञत्वक, यज्ञपरंपरा और दान-दक्षिणा जैसे आयोजन का हेतु ही यह है कि अर्थव्यवहार को संयमित करके मनुष्य की अर्थप्रवृत्ति को संभवतः कम से कम स्वकेन्द्री बनाना ही है, मुख्य लक्ष्य उसे अर्थव्यवहार से, दक्ष दक्षिणा, उदारता से परमार्थी बनाना है।

१.ऋ १०/१२१/१

२.मु. १-३

इस सृष्टि में समस्त जीव के लिए 'काम' नामक पुरुषार्थ का भी महत्व है। जीवमात्र की ऐषणा 'संतति', 'संतानप्राप्ति' के लिए होती है। उसमें 'विवेक' तत्त्व को जोडकर इस 'काम' तत्त्व को विवाह द्वारा नियंत्रित किया गया है।

अर्थ और काम यह दोनो जीवन के लिए अनिवार्य प्रयोजन है, लक्ष्य है। परन्तु वह एक ही केवल मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य नहीं माना जाएगा। अर्थ और काम दोनो परस्पर संलग्न होने से मानवी / मनुष्य सामाजिक वयवहार में आबद्ध हो जाता है। सामाजिक दृष्टि से समाज को सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में परिवार और पारिवारिक संबधो को होना अनिवार्य है।

आश्रम व्यवस्था में गृहस्थाश्रम मनुष्य को सामाजिक उत्तरदायित्व के निरंतर एहसास के साथ उसे अपने जीवन के परमलक्ष्य की साधना करा सकता है और इस तरह से अपने जीवन व्यवहार की नीति का पथ प्रदर्शक बनता है। श्री आनंदशंकर ध्रुव१ अर्थ और काम को व्यवहार एवम् धर्म और मोक्ष को परमार्थ नाम देते है। व्यवहार और परमार्थ के मध्य संवादिता स्थापित करते हुए जीवन क्रम को जीवन जीने की श्रेष्ठ कला के रुप में अभिहित करते है। पुरुषार्थ चतुष्टेय में 'धर्म' को व्यवहार और परमार्थ के बीच सुसंवादिता स्थापित करनेवाला मुख्य तत्त्व माना गया है। धर्म शब्द 'धृ' अर्थात् धारण करना, पोषण करना, अस्तित्त्व बनाए रखना इत्यादि होता है। ''धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां'' द्वारा धर्म आचरण के निर्णय (निश्चय) की सूक्ष्मता दर्शायी गयी है। महर्षि व्यास ने सूक्ष्म विवेचन न करते हुए परोपकार को 'पुण्य' लिए और परपीड़न को 'पाप' के लिए संबोधित करते हुए धर्म और अधर्म का पथ-प्रदर्शन किया है। स्मृतिकारो ने श्रृति, स्मृति, पुराण इत्यादि में धर्म की व्याख्या करते हुए सज्जनों में, सतपुरुषो में सदाचार और आत्म संतुष्टि से जो निर्णय करते है वही धर्म है। धर्मआचरण के निश्चय के कारण मानव स्वभाव की प्रवृत्ति संयमित रहती है, जिससे व्यक्ति परकेन्द्री और परमार्थी बन जाता है। इस व्यवहार और परमार्थ से ही भारतीय जीवनकला के प्रमुख आधारस्तंभ है, सीमा स्तंभ है।

हमारे नीतिविषयक आदर्श एवम् सिद्धान्त भी जीवनदर्शन के इर्द-गिर्द ही जुडे हुए है। श्रीमद् भगवतगीता में प्रमुखतः कर्मभक्ति एवम् ज्ञानप्राप्ति के मार्ग की चर्चा की गई है। इस संदर्भ में डॉ. एन काजु, श्री हर्षदभाई दिवेटिया आदि ने गीता में सामाजिक हित में धर्म के अभिगमो का दर्शन प्रस्तुत है। ''Self readisation means realisation of one's self in the wider life of our Gedowomen the Gita teachers us that there cannot be sedgrealisation without the integration of the individual self the lerger social self."

मनुष्य की जन्म से लेकर उसके उत्तरोत्तर विकास की यात्रा में उसे पोषित करने में उसके परिवार, ज्ञाति, जाति, गांव के लोग, सामाजिक संस्थाए ईत्यादि का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस संदर्भ में हर एक व्यक्ति समाज का ऋणी है। इस सामजिक ऋण को वापस लौटाने में गृहस्थाश्रम उचित साधन भी है और अवसर भी है। अतः व्यक्ति जीवन शैली और जीवन जीने पद्धति परस्पर अनुरुप होना चाहिए। गीता में सत्य ही कहा गया है कि ''जन्म जन्मांतर के पश्चात अंत ज्ञानी मुझे पा सकता है।''

गीता के आदर्श के आधार पर ही ज्ञान, भक्ति और कर्म यह तीनों तत्वज्ञान के, जीवन के मार्ग साबित हुए है। कर्मयोग को प्राधान्य देकर भी जीवन में कर्म बाधक न उस प्रकार आचरण करने की पुष्टि की गई है।

The Art of life in the Bhagvadgita

[२].''श्री भगवद्गीता अध्याय : ७ श्लोक १९

''बद्ना'' जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।'' ७ : १९

''कर्मण्येवाधिकारसे मा फलेषु कदचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोडस्तवकर्मणि॥''१

कर्मफल की इच्छा न रखते हुए अनासक्तिपूर्वक अपना उत्तरदायित्व समझकर कर्म करने की कला कुछ नवीन जीवनदृष्टिकोण प्रदान करता है।

वागाम्भुजी जैसी ऋषिका लक्ष्य को सिद्ध कर पाई है। विश्ववारा यज्ञ कर्म को अपना उत्तरदायित्व समझकर नियमित रुप से निरंतर निभाती है। तो लोपामुद्रा जैसी नारी पति के आदर्श को ही मन, वाणी एवम् चित्त के अनुरुप बनाकर तन्मयता से दाम्पत्यजीवन की एकरुपता की भावना को चरितार्थ करती है। अन्य श्रद्धा एवम् मेघा जैसी ऋषिकाएं अपने जीवन में भिन्न-भिन्न राह अपनाते हुए सामान्य नारी के रुप भौतिक सुख के लिए चिंतित नजर आती है। संक्षेप में तमाम ऋषिकाओं का जीवन वैदिक युग की नारीजगत (सृष्टि) के व्यवहार और परमार्थ का दर्शन कराता है।

वैदिकयुग के समाज का वैविध्यपूर्ण जनजीवन की और दृष्टिपात करते हुए स्वाभाविक रुप से वैदिकयुग की ऋषिकाओं के जीवनदर्शन से अवतग होने की जिज्ञासा होती है। वेद की ऋषिकाओं के सूक्तो में ''शील, वैसी शैली के आधार पर उन ऋषिकाओं के व्यक्तित्व और आचरण से उनके जीवन का प्रतिबिंब हमें प्राप्त हो सकता है। इस संदर्भ में वेद की ऋषिकाओं के सूक्तो में जो प्रस्तुत है वह निम्नलिखित है।

'सूर्यासूक्त' में पुरुष और स्त्री को धाना-पृथ्वी, ऋक-साम आदि रुप में निरुपित करते हुए स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक/नैसर्गिक अंतर को स्वीकृति दी गई है, अन्य किसी भी प्रकार का भेद या अंतर का कोई उल्लेख नहीं है।[१]

१.श्रीमद् भगवतगीता अध्याय : र श्लोक . ४७ ऋ. १०/८५/१

पुरुष या स्त्री दोनों भारतीय संस्कृति के अनुसार जीवन का एक निश्चित लक्ष्य सिद्ध करने के लिए सक्षम है। वैदिक संस्कृति के तदनुरुप जीवन-परंपरा में धर्मशास्त्रीओं के मतानुसार सनातन धर्म का कर्म एवम् पुर्नःजन्म का सिद्धान्त अति महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। कर्म संस्कार उसके पाप, पुण्य के परिणामस्वरुप संसार में निरंतर चलता हुआ चक्र है। उसी चक्र में सें मुक्ति प्राप्त करना ही जीवन का परमलक्ष्य माना जाएगा। इस लक्ष्य सिद्धि को प्राप्त करने के लिए अग्रसर मार्ग की और गति करने की स्थिति ही आध्यात्मिक मार्ग कहा जाता है।

पुरुषार्थ को ध्यान में रखते हुए जिनकी जीवनपरंपरा रही है, वह धर्मप्रधान रही है। और विशिष्ट प्रकार के व्यक्तित्त्वप्रधान ऋषिकाएं सांसारिक जीवन नहीं बल्कि ब्रह्मवादीनी का अध्यात्म मार्ग पसंद करती थी। इन ऋषिकाओं में वागाम्भृजी १ उदात्त दृष्टांत हैं। 'ते अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियनाम' कहकर राष्ट्र के साथ स्वयं का अभिन्नत्व सिद्ध कर रही है। एक स्थान पर वह कहती हैं। ''मनुष्य एवं देवगण के साथ स्वर्ग में एक साथ रहनेवाली मैं स्वयं घोषणा करती हूं कि, मैं जिस वस्तु की कामना करती हूं, उसे में बडी ही तीव्रता से / उग्रता से प्राप्त करती हूं'' इस तरह वागाम्भृजी में विशेषरुप सें आत्मगौरव की हुंकार/स्पष्ट नजर आता है। अतः स्पष्ट है कि इन ऋषिकाओं का जीवनदर्शन या जीवन जीने की कला दृष्टिकोण सर्वोत्कृष्ट, आदरणीय एवम् अनुकरणीय भी है ावागाम्भृजी से कुछ अलग, भिन्न एव निम्न स्तर का जीवनदर्शन विश्ववारा का है। दशोपनिषद् में कहा गया है - ''कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषे.....र अर्थात कर्म करते करते / कर्मरत रहते हुए भी सौ वर्ष जीने की इच्छा रखना। वैयिक संस्कृति के अनुरुप ही जीवन परंपरा हो परन्तु साथ में अग्निहोत्र द्वारा जीवन जीने की परंपरा को श्रेष्ठ दृष्टांत के रुप में प्रस्तुत करते है। 'मनुस्मृति'१ में मनुभगवान के मतानुसार सूर्योदय से पूर्व या सूर्योदय के पश्चात् अग्निहोत्र में आहूति देना अनिवार्य है। स्त्री-पुरुष के वैवाहिक जीवन का आरंभ की भारतीय परंपरा के अनुसार अग्नि में आहूति देने पश्चात ही होता है। अतः जीवनरुपी यज्ञ में स्वयं की आहूति अर्पण करने की बात स्वतः स्पष्ट है। यजुर्वेद के ऋषि के मतानुसार हे व्रतो के पति अग्नि। मैं इस व्रत का आचरण करूंगा। करूंगी।

१.ऋ – १० : १२५

२.शु.य. ४० — २

''अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे
राध्वताम् इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।''[२]

प्राप:काल में इसी तरह अग्नि (यज्ञ) का प्राकट्य एवम् पूजन किया जाता है । वेदोत्तर काल में नारी को वेदमंत्रो का उच्चारण करने का अधिकार नहीं था । वेदमंत्र नारीजगत के लिए बाध्य था एसी विचारधारा रखनेवाला को विश्ववारा ने उसका प्रत्यक्ष निदर्शन में दिया है । पूर्वदिशा की ओर मुख रखकर स्त्रुवा धृत और सामग्री (हवि) की आहूति देती है ।[३] उसे ज्ञात है कि वह स्वयं इस यज्ञ संस्कृति एवम् परंपरा की रक्षा करती हुई विश्ववारा सभी को पसंद करने योग्य है । अर्थात् यक्ष संस्कृति के निर्वहण एवम् अग्निहोत्र के कार्य में कोई समीक्षक, मीमांसक के समान शोभित उसका जीवन हैं । उन्होने यज्ञकर्म को ही अपने जीवन का मुख्य आधार, मेरूदण्ड माना है ।

१.मनुस्मृति अधयाय : र, श्लोक – १५

२.यजुर्वेद : १ – ५

३.ऋग्वेद : प–२८–१

वागाम्भृजी ज्ञानमार्ग, सांख्य या योग की चरमसीमा पर पहुंची हुई ऋषिका है तो विश्वधारा ने कर्मयोग को अपनाकर यज्ञ और अध्यात्म का समन्वय ढूंढने का प्रयास किया है । वेदकालीन ऋषिमुनिओं के यज्ञमय जीवन का यह उत्कृष्ट उदाहरण है । चार पुरुषार्थों में से अर्थ और काम को धर्ममूलक माना गया है । इसलिए अगत्स्य मुनि ने लोपामुद्रा को पत्नी के रुप में चयन करके दाम्पत्यजीवन की स्थिरता का आधार परस्पर अनुकूलनता है यह सिद्ध किया है । लोपामुद्रा अगत्स्यमुनि के तपोमय जीवन का प्रौढावस्था पर्यन्त निभाती रही । लोपामुद्रा कहती है कि तपस्या के अनुकूल होकर प्राचीन ऋषिमुनि भी अपना गृहस्थधर्म बखूबी निभाते थे । स्मृति में कहे गए धर्म के मूल यहीं से प्राप्त होते है । लोपामुद्रा यहां यह कहना चाहती है कि, अध्यात्म और व्यवहार दोनो का सुभग समन्वय गृहस्थ में होना चाहिए पतिभक्ति में आसक्त लोपामुद्रा ने लम्बी अवधि के पश्चात् मुनि अगत्स्य को सत्य से साक्षात्कार करवाया । लोपामुद्रा स्वयं तंत्रज्ञाता ऋषिका है । अत: इस उक्ती में साधारण नारी के समान भोगविलास की आंकाक्षा नहीं उभरती, बल्कि उसके स्थान पर नारीसहजं संयम के साथ स्त्री–पुरुष के बीच धर्म का पालन, समन्वय कैसे सम्भव है, इस बात का स्पष्ट निर्देश करती है ।

जैसे वर्तमान समय में भी यह सम्भव है, वैसे वैदिकयुग में भी 'सफेद दाग' जैसे गम्भीर चर्मरोग से पीडित किसी कन्या को पाणीग्रहण करने के लिए कोई भी व्यक्ति आगे नहीं आता था, उसे जीवनभर अविवाहित स्थिति में ही रहना पडता था । घोषा और अपाला नामक ऋषिकाओं का जीवन एसी परिस्थिति के ही उदाहरण है । घोषा ने अपने शरीर से 'सफेद दाग' नामक चर्मरोग को दूर करने के लिए अश्विन कुमारो की शरणागति ली, उनकी भक्तिपूर्वक१ स्तुति करके

१.ऋग्वेद १०-३९-४०

आर्तभक्ति, द्वारा रोगमुक्ति प्राप्त करके अभीष्टे की भी प्राप्ति की । अमीष्ट प्राप्ति इस घोषा में साधारण नारी के दर्शन होते है । गीता में भक्त के चार प्रकार दर्शाए गये है । १. आर्तभक्त र. जिज्ञासुभक्त ३. अर्थार्थीभक्त ४. ज्ञानीभक्त । घोषा इनमें से आर्तभक्तो की श्रेणी में आती है जिसने आर्तभक्ति के माध्यम से सफेद दाग के रोग में से मुक्ति प्राप्त की तत्पश्चात उसे योग्य जीवनसाथी भी मिला और पुत्ररत्न की प्राप्ति भी हुई ।

तो, अपाला को विवाह से पूर्व ही कुष्ठरोग हुआ था । आज भी कुष्ठरोग असाध्य नहीं, फिर समाज इस रोग से पीडित व्यक्ति का अस्वीकार करता है । इस रोग से पीडित पत्नीओं का भी त्याग कर दिया जाता है । वैदिकयुग में भी कुष्ठरोग के कारण ही अपाला के पति ने उसका त्याग कर दिया था, परन्तु स्वर्गाधिपति ईन्द्रदेव की असीम कृपा, शल्य चिकित्सा एवम् सोमवेल की प्रभावक्ता के कारण अपाला को कुष्ठरोग के मुक्ति प्राप्त हुई और अंततः अपाला के पतिने पुनः उसका सहृदय स्वीकार किया । वेदकालीन घोषा और अपाला के जीवन की गंभीर समस्याएं जैसी वर्तमान युग की नारी की समस्याएं है । आज की नारी केवल देवी शरणागत ही नहीं, बल्कि सामाजिक आंदोलन के माध्यम से नारीजगत की समस्याओं सामने लाती है । घोषा-अपाला ने तत्कालीन युग की एसी कन्याओं के लिए देवश्रद्धा की राह दिखाकर रोगमुक्ति प्राप्त की और अपने संसार में एक साधारण नारी की तरह जीवन व्यतीत करने लगी । इस तरह घोषा और अपाला जैसी नारियों के जीवन का लक्ष्य आस्थापूर्वक गृहिणी बनना ही है ।

पुरूरवा - उर्वशी के संवाद में उर्वशी की तीन शर्ते, शरतभंग होते ही उर्वशी द्वारा पुरुरवा का त्याग करना यह उर्वशी जैसी अप्सरा या आज से समय की किसी साधारण नारी का 'शरती विवाह' का उदाहरण है । कुलीन नारियां कूलवधू, भार्या, गृहिणी एवम् सहचरी बनती थी, परन्तु उर्वशी तो देवो की वारांगना/अप्सरा अर्थात साधारण नारी की कक्षा में आती है । उर्वशी जैसी साधारण नारी के संग

वैवाहिक सम्बन्ध सामाजिक रुप में अस्वीकार्य माना जाएगा । संक्षेप में नारी में शरतभंग के प्रतिशोध के रुप में त्यागवृत्ति वास्तव में समाज में स्वमान सुरक्षा की भावना को प्रतिम्बित करता है । इन्द्र की माता ने कुमारावस्था में प्रमतं होकर पुत्ररत्न के रुप में इन्द्र को जन्म दिया । कौमार्यावस्था में संतति उस समय भी समाज में घृणित कृत्य माना जाता था, लज्जाप्रद माना जाता था । मातृत्व का त्याग करते हुए अनिच्छा से क्रूरतापूर्वक इन्द्र की माता ने इन्द्र का त्याग किया था । वृद्धत्व एवम् यौवन के आरंभकाल में ही हरयुग में, हर समाज में चारित्रक पत्नी की / अवैध योनसंबंध की संम्भावना रहती है, परन्तु उस समय आत्मसंयम की उससे बचने का उत्तम साधन हो सकता है ।

वेदकालीन युग से लेकर वर्तमान युग तक की समाज में व्याप्त अनैतिक यौन सम्बन्ध की समस्या का एक मात्र उपाय है आत्मसंयम । संयम को नीति का रुप देकर इस समब्न्ध को, इस सम्बन्ध के परिणाम को अनैतिक मानना वेदकालीन और वेदोत्तरयुग में समाज में स्पष्ट होता है । बृहस्पति ने पत्नी जूहू का त्याग किया था, यह उल्लेखनीय है । १ यहं त्यकता नारी की मनोदशा और स्वमान की सुरक्षा हेतु पुनः वैवाहिक जीवन उसे कितनी मानसिक पीडा पहुंचाता है, इसका यह उत्कृष्ट उदाहरण है । जूहू का व्यवहार उसके दाम्पत्यजीवन में पुनः अनुसंधान चाहती है । त्यकता १.ऋ १०–१०८

नारी पुनः अपने पूर्वपति से, जीवन से जुडती है, तभी वह अपने दाम्पत्यजीवन को पुनः नवपल्लित कर पाती है, अन्यथा नहीं, यह हर युग के दाम्पत्यजीवन की समस्या का समाधान है । सामान्यतः स्त्री पुरुष के वैवाहिक जीवन में प्रेम और परस्पर परितोष ही अनिवार्य होता है । लोपामुद्रा ने अगत्स्यमुनि के समक्ष अपनी इच्छा की संतुष्टि के लिए मांग की थी यही उसकी अनिवार्यता (दाम्यत्यजीवन की) दर्शाती है । आगिरसी इसके परिणामस्वरुप अपने वैवाहिक जीवन में परम संतोष / परितोष की अनुभूति प्रति करती है । तो 'रोमशा' स्वयं को गांधार प्रदेश की ''अलिका'' के रुपमें अपने नामकी सार्थकता को बनाए रखते अपने पति को वैवाहिक जीवन में सम्पूर्ण सहयोग का वचन देते हुए कामसुख को दाम्पत्यजीवन की स्थिरता अनिवार्य अंग मानती है । लोपामुद्रा, शाश्वती, इन्द्राणी (वृषाकपि – इन्द्राणी संवाद) और रोमशा के दृष्टांत हर एक सुखी गृहस्थजीवन के उत्तम उदाहरण है । वैदिक युग में एक पति, एक पत्नीत्व की प्रथा साधारण रुप में थी, फिर भी तत्कालीन युग में एक से अधिक अर्थात् अनेक पत्नीत्व की परंपरा ने कई सवाल उपस्थित किए है । परिणामस्वरुप वैवाहिक जीवन में अपने अस्तित्त्व को बनाए रखने के लिए विशेष रुप से स्त्रीयों को अपने पति को अपने पास रखने के लिए निरंतर सक्रिय रहना, सचेत रहना पडता था । इन्द्राणी उपनिषद् में इन्द्राणी द्वारा सपत्नी

नारान का अभिचारप्रयोग इस बात की पुष्टि करता है। इन्द्राणी अपनी सौतन स्त्री को पति इन्द्र से विमुख और पति वश करने के लिए 'पाडा' नामक वनस्पति का उपयोग/प्रयोग करती है। शची भी अपनी शोक्य (सोतन) पर विजय प्राप्त करती है। अर्थात् अपने उपाय में सफलता प्राप्त करनेवाली शची अपने संतानो के उज्जवल भविष्य को बनाती है। आज के आधुनिक युग में मैत्रीकरार उपपति या उपपत्नि जैसे स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध समाज में अलग प्रकार की समस्या खडी करते हैं। यह बात अलग है कि इस परिस्थिति या समस्या के सामधान हेतु हर युग में नए नए उपाय सामने आ रहे है। परिणाम स्वरुप वाग्दानविधि में इन्द्राणीपूजन वास्तव में कन्या के भावी जीवन, वैवाहिक जीवन में अमंगल परिस्थिति को दूर रखने के लिए मुख्यरुप से किया जाता है।

वेदकालीन संस्कृत समाज में भी नारी को अपने शील की रक्षा की, चिन्ता निरंतर रहती थी। संयुक्त कुटुम्ब व्यवस्था में अपने परिवार के किसी करीब के रिश्तेदार द्वारा यौन-शोषण का शिकार बननेवाली नारी की कहानियां युग-युग में हर एक समाज में प्राप्त है। एसी ही एक घटना प्रसंग का प्रतिनिधित्व ममता नामक स्त्री करती है। ममता बृहस्पति के अनुज उरथ्य की पत्नी थी। उसके लिए बृहस्पति जेठे अर्थात पिता तुलय थे, फिर भी ममता गर्भावस्था में बृहस्पति की कुदृष्टि का शिकार बनती है। सिर्फ नाम मात्र उल्लेख करके यह स्पष्ट किया गया है कि यहां इस वेदकालीन ऋषिका नारी के समक्ष अपने शील की सुरक्षा, असलामती का प्रश्न खडाती है। ममता के साथ जो हुआ उससे यह बात स्पष्ट होती है कि स्त्री जाति को किसी पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए अपने ही समाज, कुटुम्ब का परिवार का कोई नीजि करीबी रिश्तेदार उसका मानसिक एवम् शारीरिक शोषण कर सकता है इस बात सचेत होकर रहना होगा। ममता का यह दृष्टांत इस बात की सत्यता सिद्ध करता है।

मुनि अगत्स्य की बहन (भगिनी) एक कुशल गृहिणी है। अपने चारों पुत्रों बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु की कुशलता के लिए हंमेशा चिन्तित रहती है। गृहकार्य कुशल होने के साथ-साथ एक आदर्श पुत्रवत्सल नारी का उत्तम उदाहरण है। वृषाकपि-इन्द्राणी संवाद में इन्द्राणी अपने पति की वीरता, पौरुष, एवम् एश्वर्य के स्वयं को गौरवान्वित महसूस करती है। इन्द्राणी पुत्र वृषाकपि के प्रति अपार ममता, वात्सलय रखती है, किन्तु अपने दाम्पत्य प्रेम सुरक्षित रखते हुए ही वह पुत्र से प्रेम करती है। इन्द्राणी के वत्सलता की यह मर्यादा है, सीमा है। आधुनिक युग में नारी पतिप्रेम और पुत्रप्रेम के चुनाव मे झुझती है, इस मनोद्वंद्व में वह वात्सलय पुत्र का उल्लेख अपने दाम्पत्यप्रेम को यथातथ्य बनाए रखकर करती है इस बात का यह ज्वलंत उदाहरण है।

वेदकाल में भी सामाजिक क्षेत्र में नारियों ने अपनी शिक्षा के अनुरुप व्यवसायों का स्वीकार किया है। शस्त्रविद्या में प्रवीण एसी मुदगलऋषि की पत्नी मुदगला वैसे तो वास्तव में अपने पति की अर्धांगिनी थी सहचारिणी थी परन्तु फिर भी अपनी शस्त्रास्त्र विद्या को कभी भी अपने दाम्पत्यजीवन में अवरोध के रुप में नहीं आने दिया। जब लूटेरों ने उनका गो-धन लूंटने की कोशिश की तब अपने पति की सहायता करने के लिए सही समय पर शस्त्रास्त्र विद्या का उपयोग करके दुश्मनों को परास्त कर दिया था, अपने गो-धन एवम् पति की सुरक्षा की थी। मुदगला का यह प्रसंग स्पष्ट करता है कि हर एक युग मे एसी नारी अबला नहीं, परंतु सबला बनाकर साक्षात दुर्गा बनकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करती है। परन्तु अपनी इस शक्ति को कभी भी अपने दाम्पत्यजीवन में अवरोध में रुप में नही लाती, बल्कि वक्त आने पर अपनी शक्ति के बल पर अपने पति के साथ खडी रहती है। इस प्रकार मुदगला अपनी शस्त्रास्त्र विद्या, शिक्षा का उपयोग अपने दाम्पत्यजीवन सुसंवादिता बनी रहे इसी हेतु करती है और आनेवाली पीढियों नारीयों का पथप्रदर्शन भी करती है और यह भी स्पष्ट करती है नारी को अपनी शक्ति का अहंकार नहीं करना चाहिए, अपनी विद्या, शिक्षा का अपने वैवाहिक जीवन में विवेकबुद्धिपूर्वक संयमित रुप में उपयोग करना चाहिए। वेदकाल स्त्री-शिक्षा को अच्छी तरह से महत्व दिया जाता था। नारी को पुरुष समान शिक्षा-प्राप्ति के अधिकार एवम् समान तक सहज में उपलब्ध थे।

वेदकाल में नारियाँ शस्त्रविद्या में प्रवीण थी। वक्त आने पर युद्धमेदान में वीरांगना बन जाती थी। हमने देखा कि मुदगल ऋषि की पत्नी मुदगलानी ने १ लूंटेरो का सामना करते हुए अपने पति और गो-धन की रक्षा की थी। रानी विश्पला का एक पांव युद्ध में आहत हो चूका था, विक्षत हो गया था एसे में अग्निदेवों ने लोहदंडे का पैर बनाकर उसे फिर से पांवो पर खडा किया था। इस प्रकार वेदकाल में नारियां गृहकार्य के अलावा, उपरांत युद्धविद्या में भी पारंगत थी, कुशल थी। ठीक वैसे ही वधिमती नामक स्त्री ने भी युद्ध के दौरान अपने एक हाथ को गवाया था, देवगणो ने उसे हिरण्यहस्त देकर सहायता की थी। परन्तु आज वर्तमान युग में युद्ध के लिए इस हद तक तत्पर रहनेवाली महिलाओं के उदाहरण बहुत ही अल्प प्रमाण में मिलते है। इस दिशा में आज की आधुनिक नारी समाज को बहुत कुछ कर्तव्य करना होगा।

व्यवसायिक क्षेत्र में गुप्तचर एवम दूती के रुप में उत्तरदायित्व निभाने में कुशल सरमा नामक स्त्री इन्द्र के यहां अपना काम करती थी। यहां हम कह सकते है कि वेदकाल केवल पुरुषो को नहीं, बल्कि

स्त्रीयों/महिलाओं को महत्वपूर्ण कार्यभार सोंपा जाता था और नारियां अपना उत्तरदायित्व अपनी कुशलता, विशिष्टक्षमता और वफादारी के साथ बखूबी निभाती थी। इन्द्र ने गुप्तचर एवम दूत के कार्य के लिए सरमा नामक स्त्री का चुनाव किया था उसके पीछे उसकी कर्तव्यनिष्ठा और विशिष्ट कार्यक्षमता ही कारणभूत थी। अपने कर्तव्य के प्रति सजगता एवम् वफादारी का सरमा उदात्त उदाहरण थी उस समय। १. ऋ. १०-१०२

महिलाओं को राजनीति के कार्य में शामिल की जाती थी इतना ही नहीं कुछ कठिन कार्यभार भी दिया जाता था। आज के आधुनकि युग में राजनीति के क्षेत्र में स्त्री-पुरुष का भेद प्राय:नष्ट हो चूका है। वेदकालीन नारियों के जीवनदर्शन में देवमाता अदिती का स्थान अविस्मरणीय है। कूल, मातृभूमि, राष्ट्र इन सभी के प्रतिनिधि के रुप में अदिती का नाम उल्लेखनीय है। अदिती का नाम मात्र ही अखंडितता, अभेद एकता एवं सुसंवादिता आदि भावनाओं का घोतक है। इन्द्र जैसे तेजस्वी पराक्रमी पुत्र की माता होने पर वह गौरव महसूस करती है। सात पुत्रों के पश्चात् मार्तण्ड के जन्म के परिणाम स्वरुप प्राचीन युग से प्रसिद्ध ''अष्टपुत्रवतीभव'' शुभ आर्शीवचन की परंपरा का आदि मूल आधार अदिती ही है। अदिती के सात अमरपुत्रो से यह संसार चक्र नहीं चला परन्तु आंठवे पुत्र मार्तण्ड से मृत्युधर्मो (अर्थात् जिसने जन्म पाया उसकी मृत्यु निश्चित है) नियम से, सृष्टि को जन्म हुआ, दूसरे शब्द में इस संसार में जगत में जन्म-मरण की परम्परा का आरंभ हुआ। इसके पश्चात् अदिती जैसी स्त्री की मातृत्वशक्ति एव अखंडिता प्रतीकरुप में है।

'श्रद्धासूक्त' की श्रद्धा नामक ऋषिका प्रात काल मध्याहन काल और सायंकाल तीनो संधिकाल में अपने श्रद्धाबल की कसौटी करना चाहती है, इतना ही नहीं निरंतर सभी को जीवन में श्रद्धान्वित, होने के लिए अनुरोध करती हुं। गार्हपत्य आदि अग्नि / यज्ञादि में वास्तव में यज्ञसंस्था के प्रति परम आस्था एवम् श्रद्धा ही कारणभूत है। जीवन के प्रति आस्था एवम् श्रद्धा के कारण ही हर एक मनुष्य अपना कोई भी कार्य सफलतापूर्वक पूर्ण कर पाता है।

वेद की ऋषिकाओं में सफल, अखण्ड ब्रह्माड को गतिशील रखनेवाले तत्वो के कारण सभी ग्रह, नक्षत्र, सितारे इत्यादि गतिमान भी है और काल के आधीन भी है। वैज्ञानिक दृष्टि से भौतिक विज्ञान - सौरमंडल अंतरिक्ष शास्त्र यह बताता है कि गुरुत्वाकर्षण के लक्षण अपार बल के कारण उसके आधा पर होते रहते कालचक्र (दिन-रात, ऋतुचक्र) का प्रतीकात्मक नाम अर्थात् वेद की ऋषिका सार्पराज्ञी.

मेघा नामक ऋषिका का ध्यान रखते हुए मेघा सूकत को महत्व दिया गया है। इसी मेघा (प्रतिभा) का बल पर साधारण लगती स्त्रीयों जैसे शश्वती, रोमशा, अगत्स्य की बहन इत्यादिने वागाम्मृजी जैसा विशिष्ट मेघावी व्यक्तित्व प्राप्त किया।

वेदकालीन इन ऋषिकाओं के जीवनदर्शन से यह स्पष्ट होता है कि कोई भी महिला/स्त्री जो गृहिणी, पत्नी, माता के रुप में गौरवपूर्ण कार्य करती हो या जो विश्पला, वधिमती के सरमा जैसी स्त्रीयां जो विविध क्षेत्र में प्रसिद्ध हो, या फिर विश्ववारा के समान कर्मक हो, वागाम्भुजी के समान अध्यात्मक्षेत्र अपना सर्वोत्कृष्ट स्थान रखती है यह तमाम वैदिकयुग की नारियां नारीजगत के सर्वांगी विकास का दर्शन कराती है।

इस प्रकार संक्षेप में यह स्पष्ट रुप से सकते है कि वेदकालीन ऋषिकाओं का जीवनदर्शन आज भी वर्तमानयुग में किसी भी देश की, किसी भी समाज की नारी को अपने अस्तित्त्व की पहचान, समाज में अपना स्थान, सन्मान, आदर्श एवम् आत्मगौरव की सुरक्षा हेतु निरंतर सतर्क एवम् प्रयत्नशील रहने के लिए दिशानिर्देशन करता है।

जयतु संस्कृतम्